

# इस शहर की शिक्षाएं

चिड़िया रैनबसेरा

विद्यानिवास मिश्र

गोरखपुर विश्वविद्यालय में कुछ घटनाएं ऐसी घटती और माहौल इतना विषाक्त हुआ कि मुझे ही बलि का बकरा बनना पड़ा। दो वर्ष तक मुझे मुकदमा भी लड़ना पड़ा। परीक्षा के वे दिन बड़े कठिन थे। पहली बार मुझे लगा कि मेरे खिलाफ अन्यायपूर्ण कार्रवाई करके उस समय विश्वविद्यालय के सत्ताधारियों ने आतंक फैलाना चाहा था और आतंक छा भी गया था। थोड़े से ही लोग थे जो मेरे घर साहसपूर्वक आ जाते थे। गोरखपुर से अधिक मेरा साथ (केवल नैतिक समर्थन का साथ) इलाहाबाद विश्वविद्यालय के अध्यापकों ने दिया था। मैं पं उमाशंकर शुक्ल के यहां रहता और भीतर की चिंताओं को मन में रखकर अविचलित भाव से परिस्थितियों से संघर्ष करता रहता था। कचहरी

गोरखपुर शहर दही के लिए प्रसिद्ध था। सुर्ख मलाईदार दही की दहेड़ी पूरी की पूरी गांव से बिकने आती थी, अब गांव में ही दूध मिलना दुर्लभ हो गया है। चरगाहें कम हो गईं और जो दूध होता भी है, वह डेयरी वाले बटोरे लेते हैं। पहले तरतुम में पुस्तक पढ़ने का बड़ा चाव था और एक पैसा दो पैसा देकर कई जगह पुस्तकें, विशेषरूप से उपन्यास उधार लाते थे। अब वह चाव उतना नहीं दिखता। पहले 'मिस्ट्रीज आफ कोर्ट आफ लंदन' जबरदस्त अश्लीलता का पर्याय थी, पर उस प्रकार के साहित्य को अब मुंह छिपाने की जरूरत नहीं रही। अब तो उनके आगे खुलापन भी शमाता है। गनीमत है कि मध्यवृत्ति मानसिकता के लोग देहाती भाषा के खोलीनुमा खुलेपन के मुहावरों की संपदा से परिचित नहीं हैं। जाने वर्जनाओं के खिलाफ विद्रोह कहाँ जाकर रुकता है !

की लड़ाई जो लड़ता है वही जानता है। उससे ठूटने से बच जाए तो उसका बड़ा भाग्य, उसके ऊपर प्रभु की कृपा।

मुझे जिन व्यक्तियों ने निरंतर मस्तक ऊँचा रखने के लिए प्रोत्साहन दिया उनका मैं ऋण मानता हूँ। उनमें पं श्रीनारायण चतुर्वेदी का नाम सबसे आगे है। दूसरे डॉ. लोहिया दिल्ली से हर हफ्ते फोन करते- 'मन मलिन न करना, हम तुम्हारे साथ हैं।' इलाहाबाद विश्वविद्यालय के अध्यापक संघ के अध्यक्ष गोवर्धनलाल शर्मा बराबर हिम्मत बढ़ाते। विश्वंभर पाठक भी सहज ढंग से यह स्वीकार करते कि मेरे संघर्ष का ही फल था कि किसी दूसरे पर गाज नहीं गिरा। मैंने उस संघर्ष से सीखा कि जो व्यक्ति अन्याय के निमित्त बने हैं, वे सभी दयनीय थे। इसलिए उस

की चिंता करके अमेरिकी प्रस्ताव को अस्वीकार करके लौटा तो बहुत कुछ बदल चुका था। गोरखपुर में अपना मकान बनना शुरू हुआ। परंतु पिताजी अस्वस्थ होकर हमारे साथ बनारस चले आए। वहीं उनका डेढ़ साल बाद शिव साहित्य हुआ। पर पिताजी ने निश्चित कर लिया था कि वे काशी से बाहर नहीं जाएंगे। वे एक दिन के लिए भी गुरुपवेश पर गोरखपुर नहीं गए, मुझे ही गुरुपवेश करना पड़ा। साथ ही संयुक्त परिवार का पूरा भार भी मेरे ऊपर आ गया।

अब गोरखपुर विशेष रूप से परिवार के लिए जाना होता है। दूसरे प्रायोजन कभी-कभी आज भी बन जाते हैं अन्यथा वहां अपने थोड़े से ही रोटी खाने हैं। गोरखपुर का नाम

हुआ है। उत्तर-पूरब में विशेष रूप से दक्षिण में अभी विस्तार की कल्पना मात्र है, पर शहर की कुछ आंतरिक कठिनाइयां भी हैं। शहर नदी के स्तर से नीचे बसा हुआ है। इसलिए बांध से इसकी रक्षा हो रही है। वस्तुतः यह शहर केवल उत्तर और मध्य में बसा हुआ था। शेष सब खेती की जमीन थी। आज खेत के घर हो गए हैं। कभी गोरखपुर के दो ओर पूरब और उत्तर में, दो घने जंगल थे। वे सब कट गए हैं। थोड़ा-सा फिर से आरोपित हुआ है। पहले यह निचली श्रेणी का हिल स्टेशन था। उस हिसाब से सुविधाएं तो नहीं मिलीं। पहले यहां पर लू नहीं चलती थी। शहर के पूरब वाले रामगढ़ ताल का बड़ा विस्तार था। उसमें नखत के नखत कमल पड़े रहते थे। बचपन में मैंने डलियाभर कमल गढ़े चार आने में खरीदे, अब तो यहां नाममात्र के कमल हैं। कमल गहोरे के दर्शन अब यहां नहीं होते। पहले जंगलों में पनियाला, खिरनी, बड़हल के पेड़ थे और उनके फल बाजार में बिकने आते थे। पनियाला और बड़हल खटमिड़े होते थे। खिरनी कुछ ज्यादा ही मीठी होती थी।

गोरखपुर शहर दही के लिए प्रसिद्ध था। सुर्ख मलाईदार दही की दहेड़ी पूरी की पूरी गांव से बिकने आती थी, अब गांव में ही दूध मिलना

आगे खुलापन भी शमाता है। गनीमत है कि मध्यवृत्ति मानसिकता के लोग देहाती भाषा के खोलीनुमा खुलेपन के मुहावरों की संपदा से परिचित नहीं हैं। जाने वर्जनाओं के खिलाफ विद्रोह कहाँ जाकर रुकता है !

इस शहर में ऊंटगाइयां चलती थीं, वही उस समय की टेंपोगाइयां मानी जाती थीं। लंगे और इके चलते थे, वे सभी धीरे-धीरे लुप्त होते जा रहे हैं। अब रिक्शे आ गए, टेंपे आ गए। अब शहर से बाहर जाने के लिए टैक्सी आ गई है जिसमें ड्राइवर की कुशलता सवारियों की संख्या भरने से नापी जाती है। ये सर्वहारा टैक्सियां चौतीस-चौतीस सवारियों तक ले जाती हैं। जनसंख्या का दबाव तो कम, पर पैदल चलने की आदत छूट जाना सबसे अधिक इसके लिए जिम्मेदार है। इस प्रकार अमानवीय स्थिति में यात्रा दयनीय हुई है।

गोरखपुर का इस समय अलग तरह का महत्व हो गया है। यह भी उत्तरप्रदेश की धुरी बन गया है। यहां से राजनीति संचालित होती है, दूसरी ओर यहां के बाजू में दादागिरी की राजनीति संचालित होती है। नेपाल पास होने के कारण तस्करी का भी द्वार हो गया है और उससे जुड़ी हुई अपराधशीलता का भी। आज स्कूल-



दुर्लभ हो गया है। चरगाहें कम हो गईं और जो दूध होता भी है, वह डेयरी वाले बटोरे लेते हैं। पहले तरतुम में पुस्तक पढ़ने का बड़ा चाव था और एक पैसा दो पैसा देकर कई जगह पुस्तकें, विशेषरूप से उपन्यास उधार लाते थे। अब वह चाव उतना नहीं दिखता। पहले 'मिस्ट्रीज आफ कोर्ट आफ लंदन' जबरदस्त अश्लीलता का पर्याय थी, पर उस प्रकार के साहित्य को अब मुंह छिपाने की जरूरत नहीं रही। अब तो उनके आगे खुलापन भी शमाता है। गनीमत है कि मध्यवृत्ति मानसिकता के लोग देहाती भाषा के खोलीनुमा खुलेपन के मुहावरों की संपदा से परिचित नहीं हैं। जाने वर्जनाओं के खिलाफ विद्रोह कहाँ जाकर रुकता है !

कॉलियों की बाढ़ आ गई है पर इसके प्राइमरी और जूनियर स्कूल जो देहातों की शहनी थे, अब बुझते जा रहे हैं। पाठशालाएं तो नाममात्र की रह गई हैं। यदि पाठशालाओं के पाठ्यक्रमों की समानता हाईस्कूल, इंटरमीडिएट से न होती तो वहां कोई परीक्षार्थी भी नहीं मिलते। पर यह परिदृश्य तो सब जगह का है। १९वीं शताब्दी के पहले चरण में एक किनाब छपी थी। हिस्ट्री

एक जिल्द गोरखपुर के इतिहास पर थी, उसमें गांव की शिक्षा-व्यवस्था का, अधूरा ही सही पर जो विवरण है, वह जनपद की पुरानी समृद्ध शिक्षा-परंपरा का एक अलग आधार देता है। कनिष्ठ के पुरातात्विक सर्वेक्षण में जो प्राचीन स्थान उल्लिखित हैं उससे अधिक स्थानों का विवरण इस पुस्तक में है। पता नहीं वे सारी मूर्तियां कहाँ चली गईं? जो थोड़ी बहुत खुदाई सुलगीया जैसे स्थानों में हुई उसमें प्रागैतिहासिक काल से मध्य काल तक अविच्छिन्न सांस्कृतिक प्रवाह का प्रमाण मिलता है।

मेरे बचपन तक गोरखपुर नावों के द्वारा तिजात का केंद्र था। अब न नदी उतनी गहरी और न नाव से तिजात है। नाव से तिजात का एक सैलानी जादू आज केवल कथा की वस्तु हो रह गया है। गोरखपुर की पुरातात्विक सामग्री के दो नमूने अभी भी शहर में हैं। एक तो पुष्पा पर कसौटी पत्थर की अर्धद्वि विश्व प्रतिमा पाई गई, जो पुष्पों में किसी ने मूर्ति-भजन के भय से डाल दी थी। वह गोरखपुर में २०वीं शताब्दी के पहले चरण में मंदिर में पुनः प्रतिष्ठित कर दी गई। वह विलक्षण सुंदर प्रतिमा है। गुरुलजी ने उसका अभिषेक कराया और बड़े ध्यान से उसे अनाच्छादित रूप में देखा और वे मुग्ध हो गए थे। अब दिवांत पं सुतिनारायणमल जिपाटी की अभिनंदन-ग्रंथ समर्पित होना था। उसके लिए हम लोगों ने संपूर्णानंदजी को बुलाया था। वे तब राजस्थान के राज्यपाल थे। वे ट्रेन से आए थे, और जो पहले उन्हें कार्यक्रम दिया गया था, उसमें एक घंटा समय बढ़ाने के लिए उनके निजी सहायक से बात कर ली थी, पर कहीं कुछ संश्लेषण में चूक हुई कि समय से पहुंचने की आदत थी ही, पूर्व निर्धारित समय पर पहुंच गए। तब सभी लोग घबरा गए। मुझे उनका स्नेह प्राप्त था, मैं ही उनसे मिलने गया। उनसे अनुरोध किया कि बाबूजी आपको एक अत्यंत दुर्लभ मूर्ति का दर्शन कराएं और उन्हें असुर पोखर में स्थित विश्व मंदिर में ले जाएं। कार्यक्रम में परिवर्तन से वे भीतर ही भीतर कसमसा रहे थे। पर विष्णु की इस प्रसन्न-मुद्रा को देखकर वे बहुत खुश हुए और उन्होंने कहा कि कार्यक्रम में विलंब ने ही मुझे यह देखने का अवसर दिया। जब मैं उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री था, तब किसी ने मुझे इस मूर्ति के बारे में नहीं बतलाया था। सातवीं-आठवीं शताब्दी की कुछ और दुर्लभ मूर्तियां विजयवासिनी पार्क में हैं, वे वर्षा और आतप श्रेल रही हैं।

एक छोटा-सा संग्रहालय- पुरातत्व संग्रहालय- गोरखपुर विश्वविद्यालय में भी हो गया है। गुरुलजी के नाम से एक छोटा-सा संग्रहालय बना। एक ही बात दुर्भाग्य की है कि जहां स्वाधीनता प्राप्ति के बाद बौद्धधर्म दर्शन के इतिहास में रुचि बढ़ी, वहाँ शैव और वैष्णव धर्म में रुचि कम हुई। कुछ तो सत्कारी नीति के कारण, कुछ श्रद्धा के क्षरण के कारण और अधिकतर तो इसलिए कि समय दृष्टि से संस्कृति की यात्रा को पहचानने का हमारा स्वभाव ही समसामयिकता के दबाव में आ गया।

बहरहाल गोरखपुर ने मुझे प्राथमिक शिक्षा दी, माध्यमिक शिक्षा दी और बाद में जीवन के एक मोड़ पर संघर्ष की शिक्षा दी। मृत्यु को पहचानने की शिक्षा दी, परिवेश को पहचानने की शिक्षा दी। मैं कैसे करूँ कि उसका कभी न चकाया जा सकने वाला ऋण मेरे ऊपर है और

दूषांतर  
कृष्ण कुमार



## जलता हुआ पत्ता

सूखी पत्तियों को सम्मान की दृष्टि से देखने की बात कुछ इसी तरह की है जैसा गुजरात या पश्चिम एशिया में मानवता का विचार। पतझड़ में हर साल मेरे दो-एक झगड़े सफाई कर्मचारियों से हो जाते हैं। कहने की जरूरत नहीं है- न पाठकों से, न खुद से- कि सफाई कर्मचारियों से झगड़ना अपनी ही नानादी है क्योंकि उनके विचार उनके अपने नहीं हैं और वे जो भी करते हैं, समाज की मान्यताओं के अनुसार ही करते हैं। इनमें सूखी पत्तियों को इकट्ठा करके जला देने का काम शामिल है।

कहना कठिन है कि सूखी पत्तियों को कूड़ा मानने की प्रवृत्ति और प्रथा कहाँ से आई। इतना तो तय है कि यह प्रथा बाहर से नहीं आई। यह कहना इसलिए जरूरी था कि कई वर्षों से समाज और साहित्य के बारे में लिखने वालों के बीच एक विचार चल रहा है जिसके अनुसार हर गुरुबड़ का स्नोत बाहरी बताया जाता है। यह विचार प्राचीन भारतीय समाज की श्रद्धा स्थापित करने की राजनैतिक और मनोवैज्ञानिक मुहिम का बाहरी हिस्सा है। मुहिम को मनोवैज्ञानिक कहना इसलिए जरूरी है कि उसकी राजनैतिक कार्यसूची की तह में आत्महोता की एक आश्चर्यजनक रूप से मोटी पत छिपी हुई है। भाजपाई के अलावा गांधीवादी और दोनों के विविध संगी इस मनोवैज्ञानिक समस्या से रात-दिन जुड़े हैं। राजनीति थोड़ी गह्रत देती है, पर जरा सी देर में कष्ट फिर उभड़ जाता है और रोगी को दोषात वैदिक काल की यात्रा करनी पड़ती है। आप कल्पना कर सकते हैं कि समस्या कितनी बड़ी है।

सूखी पत्तियों को जलाने की आदत यदि इस्लाम या अंग्रेजों के साथ नहीं आई तो कब उत्पन्न हुई, यह प्रश्न सोचा जाने लायक है। 'मुच्छकटिक' में सूखी पत्तियों का ढेर मंच पर बनाया जाता है। पर उसे जलाने की बात नहीं है। अनेक कवियों ने सूखी पत्तियों का ध्वन्यात्मक चित्रण किया है। यह सही है कि पंत ने 'जीर्ण पत्र' से जट्टी झरने की अपील की है, पर इसे हम उनकी संवेदना की सोमा के पार की बात मान सकते हैं। कौसानी की पर्वतीय हरियाली में पली चेतना सूखे पत्ते का सौंदर्य कैसे पहचाने? रघुवीर सहाय ने कल्पना की कि पत्ता गिराकर पेड़ जमीन पर गुरुबड़ रहा होता है। सूखे पत्ते पर चलने से पैदा होने वाली आवाज की सुंदरता भी उनकी एक कविता में दर्ज है।

पत्ता पड़ा रहे तो क्या हर्ज है, यह पुछने पर सफाई के लिए नियुक्त कर्मचारी कहते हैं कि बात एकाध पते की नहीं, अनगिनत पत्तों की है, उन्हें इकट्ठा न करें तो लोग- जिनमें अफसर शामिल हैं- कहते हैं कि कर्मचारी अपना काम नहीं करते हैं। वैसे नीति निर्धारण के स्तर पर अधिकारियों ने एकदम धिक्कानसम्मत रुख अपनाया है। कहते हैं, 'मेनका गांधी की पहल पर पर्यावरण विभाग ने यह नीति बनाई थी कि सूखी पत्तियों को जमीन में गाड़ दिया जाए जिससे वे खाद बन जाएं। जाहिर है, उस समय यह हिसाब नहीं किया गया कि मार्च-अप्रैल में सूखकर गिरने वाली पत्तियां की कुल मात्रा या संख्या कितनी होगी और उन्हें गाड़ने के लिए जमीन और गड्ढे खोदने के लिए मजदूरों कहाँ से मुहैया कराई जाएगी। आधी-अधूरी नीति के चलते हमें दिल्ली में इधर-उधर कुछ सांकेतिक गड्ढे दिखाई देते हैं, पर जलती हुई पत्तियों से उठे धुएँ के कोमल स्तंभों की तुलना में इन गड्ढों की संख्या दयनीय रूप से नागण्य है।

इस तरह देखने पर इस मामले की पुष्टिपुष्टि में भी राज्य और समाज के बीच का अंतराल दिखाई देता है जो नीति के कई अन्य दायरों में तबालो मचा चुका है। पतझड़ की लेकर भी अगर समाज में सहमति नहीं है तो धार्मिक संबंधों और अलगवादी संस्कृति पर एक व्यवस्थित बहस को आरंभ करना कठिन है। इस समय लगाता है जैसे गुजरात में जारी हिंसा ने संवाद और विश्लेषण के सारे परिचित दायरे ध्वस्त कर दिए हैं। लिखा बहुत कुछ जा रहा है, पर शब्दों के पीछे एक गहरी खीझ और कहीं-कहीं गहरी हाताश भी दिखाई देती है। कल तक यानी फरवरी तक मुठों में सबसे बड़ा मुद्दा वैश्वीकरण से जुड़ी आर्थिक नीतियां और विस्मयपूर्ण थी। बड़ा यथायथ बर्हो है, पर हमारी आंखों को नफ़ल और खून से फुरसत मिले, तब न कुछ और देखें ?

शब्दों की इतिश्री भी साफ झलक रही है। बाबरी मसजिद के विध्वंस के बाद जो तर्क और तेवर उभरे हैं, वही फिर झाड़-पोंछ कर सामने लाए जा रहे हैं। उनमें से कितने तर्क आज के गुजरात पर लागू होते हैं, यह जांचने का समय किसी के पास नहीं है। अभी तो शायद कुछ कहना ही जिंदा रहने का सख्त बन गया है। टिप्पणिकारों और समाज वैज्ञानिकों की स्थिति इस संदर्भ में प्रधानमंत्री से भिन्न नहीं है। अमदाबाद के एक राहत शिविर की भीड़ में उनका भागण एक औपचारिक शोक संदेश की सपाटबयानी से ऊपर नहीं उठ सका तो इसी कारण कि गुजरात के सामाजिक विखंडन ने एक नई दारुण स्थिति पैदा कर दी है। यदि प्रधानमंत्री इस विखंडन के राजनैतिक आधार का खूबे, भले उसकी गहराइयों में न जाते, तो शायद उनके शब्द कुछ बनने लगे पाते। पर वैयास करने पर उन्हें दोषियों का जिज्ञा करना पड़ता तो उनके लिए संभव नहीं था। इसलिए कोई आश्चर्य नहीं कि विषय जज्जती होकर रह गया, इस संदर्भ में न जुड़ सका जिसे आज देश जो रहा है। धार्मिक अलगवावाद अब एक जलजल प्रश्न नहीं है, एक कलम का प्रश्न है।



## कविता

विमल कुमार

### एक जलते हुए शहर की यात्रा

इस जलते हुए और शीशे की तरह हर रोज धोड़ा पिघलते हुए इस मरते हुए और मरने से पहले धोड़ा पानी मांगते हुए शहर में आपका स्वागत है !

किस तरह नुचे हैं तितलियों के पंख यहां किस कदर कुचली गई है घास पार्कों में किस तरह बहाई गई है दीवार किस कदर लगाई गई है आग लुटा गया है यहां किस तरह सबका विश्वास

चीखते हुए पेड़ों और रोती हुई नदियों वाले शहर में आपका स्वागत है !

कितनी अच्छी बात है आप टूटे हुए सपने देखने आए हैं मासूम बच्चों के आंसू पोंछने आए हैं विलाप करती स्त्रियों को चुप कराने आए हैं इस कलगाह में लाशों पर फूल

खिलाने आए हैं

कौन आता था इस शहर में अब तक कोई तो नहीं ?  
कौन सैलानी ? कोई फकीर ?  
यही क्या कम है कि आप कम से कम राख की ढेर तो देखेंगे  
उठती हुई लपेटें और चिनगारियां देखेंगे  
बेजुबां गलियों और घायल सड़कों की  
खामोशियां देखेंगे  
मंडराते गिद्धों और मकानों पर बैठी  
चीलों वाले शहर में  
आपका स्वागत है

इस आधुनिक समय में  
आप गहरी असुरक्षा और अनिश्चित  
भविष्य देखने आए हैं  
क्योंकि यह सब भी अब देखने की  
चीजें हो गई हैं

सीने के अंदर गहरे जखम  
और जखमों पर छिड़के नमक देखने  
आए हैं  
हमें मालूम है  
आप किनकी आंखों में जमक देखने  
आए हैं।  
आपका स्वागत है !

सै

यह हैदर रजा का कलाकर्म मुझे बेहद अजीब है। रजा को मैं आज भारत के सर्वोत्तम कलाकारों में एक मानता हूँ। तिस पर मैं इस तथ्य की अनदेखी नहीं कर सकता कि वे लंबे समय से भारत-फ्रांस संबंधों में एक अतिविशिष्ट भूमिका निभाते रहे हैं। वे उन दुर्लभ व्यक्तित्वों में हैं जो संस्कृति के व्याख्याकार का काम करते हैं और एक ऐसे समय में, जब हमारी पृथ्वी तरह-तरह के कठमुल्लेखन के भार से जीर्ण-शीर्ण हो रही है, वे हमें ठीक से सांस लेने और कुछ ज्यादा मनुष्य होने योग्य बनाते हैं। इसी वजह से फ्रांस सरकार ने उन्हें सम्मान के लिए चुना है और इसलिए आज शाम मैं उन्हें ऑफिसर ऑफ द ऑर्डर ऑफ आर्ट्स एंड लेटर्स की उपाधि प्रदान करूंगा।

आगर रजा की कला हमें- हम चाहे फ्रांसीसी हों या भारतीय- इस कदर आंदोलित करती है तो इसलिए कि उसमें एक प्रशांत ऊर्जा और काव्यात्मक तत्त्व हैं जो हमारी संवेदनाओं से जुड़ता है। दिल्ली में रेजिडेंस ऑफ फ्रांस में रजा की एक बहुत सुंदर पेंटिंग है, जो फ्रेंच स्टेट कलेक्शन का हिस्सा है। सौभाग्य से मुझे इसे दिन में कई बार देखने का अवसर मिला है और जब भी मैं इसके सामने होता हूँ, मुझे इस बात की तीव्र अनुभूति होती है कि इसमें जो संदेश दिया जा रहा है और इस संदेश को अभिव्यक्त करने के लिए रंगों का जो माध्यम चुना जा रहा है, उसके बीच कितनी निर्दोष संगति है।

जो चीज मुझे प्रभावित करती है, वह रजा की पहचान नहीं है। इसमें कोई शक नहीं है; वे हिंदुस्तानी हैं, भले ही लंबे समय से फ्रांस में रहते आए हैं और अब भी फ्रांस में ही रह रहे हैं। पिकासो, सोल्वेनिस्तिन, कुंदेरा और नोबेल पुरस्कार विजेता जिग जांग से लेकर ऐसे कई कलाकार हैं जो इसी तरह अपने देश से बाहर रहे हैं। उनके लिए भौगोलिक दूरियों का मतलब कभी भी अपनी जड़ों से कटाव या पहचान पर खतरा नहीं रहा। उल्टे, यह सिर्फ दूसरी संस्कृतियों को ही नहीं, अपनी संस्कृति को भी खोजने और पचाने का निरंतर आज़माया जा रहा शर्ट कट रहा है।

जो चीज मुझे अच्छी लगती है, वह रजा द्वारा हमारी आज की दुनिया की प्रखर अभिव्यक्ति है। इस इक्कीसवीं सदी की शुरुआत में हम बहुत सारे विप्रमो से मुक्त हो रहे हैं। जो विचारधाराएं पथर पर लिखी इबात लगती थीं, वे बेचैन करने वाली सहजता के साथ धुंध में मिल गई हैं। हम खुद को एक ऐसी दुनिया के सामने पा रहे हैं, जहां विश्वास और प्रगति मजबूत कुछ भीतर या कुछ सेकेंड दूर सर्वाधिक अविश्वसनीय हादसों के साथ रहते हैं। हम जहां कहीं भी देखें, बीती सदियों में जिन दुर्भाग्यों और हिंसा को परे रखना हमें सीखना चाहिए था, उन्हें रोकने का सामर्थ्य, लगता नहीं है कि हममें बचा है। नर्मदा के किनारों पर जन्मा और प्रोवेस में एक सुंदर से गांव गोबियो में रह रहा एक भारतीय कलाकार इस दुनिया को अभिव्यक्त करने में कैसे समर्थ है? इस सवाल का मेरा जवाब स्वाभाविक रूप से नितांत वैयक्तिक है। सर्वप्रथम इसका श्रेय रजा की प्रतिभा को जाता है। अगर इस

## अंतरंग आलाप से सभ्यता-संवाद तक

सैयद हैदर रजा

बर्नार्द द मोफेरॉ



अपनी कला में रजा अभिव्यक्ति के अन्य माध्यमों का इस्तेमाल करते हैं जिनका भारतीय परंपरा से गहरा वास्ता है। और ये रंग हैं और इनमें प्रमुख है काला। रजा ने जो कहा है, उसे उद्धृत करूं: 'मुझे काले की अहमियत समझ में आई। मैं इसे भारतीय चिंतन से जोड़ता हूँ। मेरा खयाल है कि काला मातृरंग है, सभी रंगों की मां।' कई अन्य सर्जकों में भी काले के प्रति गहरा लगाव रहा है, चाहे वे फ्रेंच पेंटर सोलेज हों या यहां तक कि महान डिजाइनर सेंट लॉरेन, जो कहा करते थे कि कोई दूसरा रंग स्त्री के सौंदर्य में इससे ज्यादा वृद्धि नहीं कर सकता।

अब करीब आधी सदी से ज्यादा वक्त से, रजा हम दोनों देशों के बीच सांस्कृतिक दूत सरीखी भूमिका निभाते रहे हैं। फ्रांस में बहुतांश के लिए रजा की पेंटिंग्स वह प्रिंम हैं जिसके जरिए वे भारत को उसके अतीत और वर्तमान सहित देख पाते हैं।

भारत की आध्यात्मिकता के संदर्भ में, बिंदु शृंखला की उनकी तस्वीरें इस विषय पर कई पाठों से कहीं ज्यादा अर्थवान हैं। रजा युवा भारतीय कलाकारों के लिए मार्गदर्शन और प्रेरणा का काम करते हैं।

मैं यहां अपनी बात खत्म करते हुए पिरे गॉदिबेर के शब्द दुहराना चाहता हूँ, 'धृतरा के इस भयावह दौर में- जिसमें आज हर आदमी खुद को पा रहा है- जो चीज जरूरी है वह है रचनात्मक प्रतिरोध....रजा उनमें से हैं जो वर्णसंस्कृति के इस युग के क्षितिज पर खड़े जड़ें हैं जो रजा को शाश्वत तक की ओर ले जाती हैं। मुमकिन है, जो नितांत भिन्न और पूरक दृष्टिकोण फ्रांस में

जीवन ने उन्हें दिया है, उससे भी इस मिलसिले में उन्हें मदद मिली हो। मगर वे भारतीय संस्कृति से जो ग्रहण करते हैं वे उसके विशिष्ट और अलग से पहचाने जाने वाले तत्त्व कम हैं और उसमें अभिव्यक्त वे शाश्वत मूल्य ज्यादा जो सभी मनुष्यों के लिए समान हैं। भारत को कहा जाता था कि अपनी पिछताओं के प्रदर्शन की जाह साक्षा मूल्यों और विरासत का पोषण कर हम मनुष्यता को ज्यादा बढ़ावा दे सकते हैं।

और यही वजह है कि रजा की कला इतने सारे लोगों तक पहुंचने का सामर्थ्य रखती है। अपने काम के प्रारंभिक चरण में भी, उनमें अपने कलाकर्म को भौगोलिक परिभाषाओं के बाहर, एक व्यापक फलक में रखने की लियाकत रही है। शायद यही चीज है जिसने जाक लैसन को यह कहने को प्रेरित किया कि उनके सिर 'कालविहीन' हैं और उनके शहर 'पृथ्वी से कटे हुए'। अपने निजी और अंतरंग अनुभवों को अनायास एक सार्वभौमिक आयाम दे डालना रजा को आता है। यह बात साबित करने के लिए सिर्फ उनके शब्द याद करना पर्याप्त है, 'मुझे यकीन है कि बहुत ही सरल तरीकों से अनंतता अर्जित की जा सकती है।'

यह एक वाक्य वस्तुतः रजा नाम के चित्तों के समूचे चिंतन और दर्शन को समेट लेता है। रजा का जीवन और कलाकर्म एक अविग्राम यात्रा है। मध्य प्रदेश के जंगल में मांडला नाम के जनजातीय गांव से लेकर आधुनिक यूरोपीय देश, फ्रांस तक की यात्रा, जिसके पास उनके अपने शब्दों में 'अनुपात की समझ' अद्भुत है जिसने चीजों को महसूस करने में उनकी मदद की है। अंतरंग एकालाप से सभ्यता-संवाद तक की एक यात्रा। काल से कालहीनता की यात्रा ('उनका समय एक अन्य समय है- एक तरह से कोई भी समय।' - कवि अशोक वाजपेयी का कहना है)। आकृतिमूलकता से अमूर्तन की यात्रा (गीति सेन के मुताबिक: रजा के बिंबों में अमूर्तन है; जो कहा गया है, उससे ज्यादा वे अभिव्यक्त करते हैं)। अंततः बिंदु के एक छोटे से घेरे से सृष्टि के रहस्यों की यात्रा।

आखिरी बात, रजा के काम के सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रेरणा स्रोतों में एक यह तथ्य है कि वे प्रकृति से बंधे हुए हैं। उन्हें उद्धृत करूं: 'मध्य प्रदेश के जंगलों ने, जहां मैं जन्मा और जहां तेरह वर्ष की उम्र तक रहा, मेरे संपूर्ण जीवन पर अपनी छाप छोड़ी है। अनजाने में ही प्रकृति के साथ एक तादात्म्य बन गया।' एक अन्य साक्षात्कार में वे कहते हैं, 'मैं भीड़ के मुकाबले प्रकृति को तरजीह देता हूँ।' मेरे लिए यह आंतरिक ज्ञान बताता है कि रजा की ज्यादातर ज्यामितीय आकृतियों में क्यों एक विशेष स्पंदन है जो हमें प्रकृति में जीवन और प्रकाश की निरंतर गति के प्रति आगाह करता है।

मेरा बहुत गहरा विश्वास है कि ये बेहद मजबूत और गहरी भारतीय जड़ें हैं जो रजा को शाश्वत तक की ओर ले जाती हैं। मुमकिन है, जो नितांत भिन्न और पूरक दृष्टिकोण फ्रांस में